ऋषि दयानन्द प्रणीत–

आर्योद्देश्यरत्नमाला

एवं

(वैदिक वाङ्मय तथा ऋषि दयानन्द कृत अन्य ग्रन्थों के आधार से इसी के १०० वैदिक सिद्धान्तों की व्याख्या)

व्याख्याता :

आचार्य परमदेव मीमांसक

प्रकाशक :

राष्ट्रीय आर्य निर्मात्री सभा

मुख्यालय–आर्य समाज, शिवाजी कॉलोनी,

रोहतक (हरियाणा)

सम्पादकीय

प्राचीन काल में ऋषियों के द्वारा ईश्वरीय विधान के आधार पर जीवनोपयोगी सिद्धान्तों की रचना की गई। इन्हीं सिद्धान्तों को हमारे पूर्वजों ने धारण कर लक्षाब्दियों तक श्रेष्ठता व सुखमय जीवन व्यतीत किया है। ऋषि दयानन्द द्वारा आर्यों के लिए संक्षिप्त रूप से सौ सिद्धान्तों को संकलित कर इस लघु ग्रन्थ की रचना की गई जिसे उन्होंने आर्यों के लिए उद्देश्य कहा है। जिस प्रकार से किसी का भी पुरुषार्थ उद्देश्य के बिना निरर्थक होता है और सफलता भी प्राप्त नहीं हुआ करती है उसी प्रकार इन सिद्धान्तों को उद्देश्य के रूप में अपना कर, जीवन में धारण करके ही पुरुषार्थ की सार्थकता और सफलता आर्यों द्वारा प्राप्त की जा सकती है। अतः इन सिद्धान्तों को जीवन में धारण करना एक आर्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है और यह उसका कर्तव्य भी है कि इन सिद्धान्तों को अन्यों को धारण करवाने के लिए भी पुरुषार्थ करे।

ऋषि दयानन्द ने इन अति महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को संक्षित रूप में हमें जनाया है, लेकिन हम सब अति सौभाग्यशाली हैं कि हम सब के प्रेरणास्रोत, आर्यक्रान्ति के उद्‌भावक, वेदों के उद्‌भट-विद्वान्, परम श्रद्धेय आचार्य परमदेव मीमांसक जी ने इन सिद्धान्तों को व्याख्यायित कर सरल रूप में हमें समझाने में सहायता की है। आचार्य श्री ने जहाँ आवश्यक हुआ है वहाँ बड़ी ही सरल, सटीक, व्यावहारिक व उपयोगी व्याख्या की है जिससे हम इन सिद्धान्तों को जीवन में धारण कर, अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर दुर्दिन को सुदिन में बदल ले जाएं। यही आकांक्षा आचार्य श्री ने इस पुस्तक की भूमिका में दर्शायी है और इसी से इन सिद्धान्तों के महत्त्व को भी समझा जा सकता है।

इस लघु ग्रन्थ के इस द्वितीय संस्करण का प्रकाशन इसी आकांक्षा के साथ किया जा रहा है कि इन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की व्याख्या शीघ्रता से सभी आर्यों तक पहुँचे और वे इन्हें अपने जीवन में धारण कर स्वयं तो दृढ़ता के साथ अपने लक्ष्य की ओर आगे बढें ही, साथ-साथ अन्यों को भी सिद्धान्तों को धारण करवा कर आगे बढ़ा ले जावें। हमारी तो यही आकांक्षा है कि यह लघु ग्रन्थ वा ये सिद्धान्त इतने प्रचलित हो जाएं कि कोई इनसे अछूता न रह पाए। यही हम सब को अपने लक्ष्य की ओर ले जाएगा और यह हमें करना ही चाहिए।

– आचार्य सतीश, दिल्ली

भूमिका

मनुष्य का जीवन विचारों-सिद्धान्तों पर आधारित होता है। भिन्न-भिन्न सिद्धान्त मनुष्य को पृथक्-पृथक् कर देते हैं, एक सिद्धान्त मनुष्य को संगठित कर देता है। श्रेष्ठ एवं निर्भ्रम सिद्धान्त पर चलना निरापद, और निकृष्ट तथा भ्रमयुक्त सिद्धान्तों को मानना आपद को प्राप्त करना है। मनुष्य प्रकृति एवं परिस्थितियों को देख-देख कर जो सिद्धान्त निर्णीत करता है वह अल्पज्ञता, परिस्थिति के यथार्थ आकलन का अभाव तथा प्रकृति एवं परिस्थितियों के परिवर्तनशीलता के कारण बदलता रहता है और संशययुक्त रहता है अर्थात् कभी निर्भ्रान्त नहीं होता है। ज्ञान बिना सिखाये कभी नहीं आता है, अतः शिक्षा के लिए नैमित्तिक ज्ञान अनिवार्य है। सृष्टि के निर्माण, पालन एवं विनाश की स्थितियों के विश्लेषण से तथा निर्माण के प्रयोगविधि की अनिवार्यता रूप सामान्य नियम के अनुसार इसके कर्त्ता का होना एवम् इसके उपयोग हेतु ज्ञान का होना अनिवार्य है; अतः इस सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर और सृष्टि के उपयोग का विधि-निषेधमय ज्ञान वेद है। वेद सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा प्रदत्त होने से निर्भ्रान्त एवं संशय रहित है। इसी वेदज्ञान के अनुसार आर्यों ने सिद्धान्त निर्धारित किये और जीवनयापन किया। धीरे-धीरे इन सिद्धान्तों के ज्ञान एवं पालन में शिथिलता आने लगी और सिद्धान्तों की व्याख्या भी स्वार्थ एवं दम्भ आदि के कारण भिन्न-भिन्न होने लगी, परिणामतः मनुष्य वेद विमुख हो भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों के अन्धकूप में जा गिरा और एक दूसरे के रक्त का पिपासु हो गया। इन्हीं रक्त के पिपासुओं से भयाक्रान्त हो वेदमूर्ति भारत लगभग सहस्र वर्ष तक पददलित रहा। इसी घनघोर सामरिक, राजनैतिक, आर्थिक, शारीरिक और मानसिक पराभव काल में वेदोद्धारक और आर्यसंस्कृति के उन्नायक समाधि प्रज्ञा से सम्पन्न ऋषि दयानन्द ने वैदिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन एवम् असत्य मतों के खण्डन के लिए संवत् १९३१ (१८७४ ई०) में सत्यार्थप्रकाश की

रचना की। इसमें सिद्धन्तों का संक्षिप्त संग्रह स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश किसी कारण से नहीं छप सका था (द्रष्टव्य–भूमिका: सत्यार्थप्रकाश द्वि०सं०)। श्रा० शु० ७ सं० १९३४ (१५ अगस्त १८७७ई०) में ऋषि दयानन्द ने आर्यों के १०० मन्तव्यों का एक संग्रह आर्योद्देश्यरत्नमाला के नाम से प्रकाशित किया। इसकी महत्ता इस लघु ग्रन्थ के प्रणयन के ५ वर्ष बाद सं० १९३९ में सत्यार्थ्‌प्रकाश के द्वितीय संस्करण में निबद्ध स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश जिसमें ५० मन्तव्यों का संग्रह है की भूमिका से व्यक्त होती है–

"सर्वतन्त्र–सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म, जिस को सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी, इसीलिए उसको **'सनातन नित्यधर्म'** कहते हैं, कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके।"

यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुए जन जिसको अन्यथा जानें वा मानें, उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते। किन्तु जिसको 'आप्त' अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं, वही सबको मन्तव्य (–होने से प्रमाण के योग्य), और जिसको नहीं मानते, वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता।

अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं, जिन को कि मैं भी मानता हूँ, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सब को एक सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत–मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु जो सत्य है उसको मानना–मनवाना, और जो असत्य है उस को छोड़ना और छुड़वाना मुझ को अभीष्ट है।

यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्यावर्त्त में प्रचरित

मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु जो-जो आर्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चालचलन है उसका स्वीकार, और जो धर्मयुक्त बातें है उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ। क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है।

मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे, और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं कि चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा उन्नति प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्त्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उस का नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उस को कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।

इसमें श्रीमान् महाराजा भर्तृहरि जी आदि ने श्लोक कहे हैं। उनका लिखना उपयुक्त समझकर लिखता हूँ-

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥१॥

भर्तृहरिः ।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥२॥

महाभारते।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥३॥ -मनुः

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।।४।।

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
नहि सत्यात् परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत्।।

उपनि०।।

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सब को निश्चय रखना योग्य है। अब मैं जिन-जिन पदार्थों को जैसा-जैसा मानता हूँ, उन-उनका वर्णन संक्षेप से यहाँ करता हूँ, कि जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ (सत्यार्थ-प्रकाश) में अपने-अपने प्रकरण में कर दिया है।

आर्यो ! सं० १९३४ में पंजाब प्रवास में प्रायः सर्वत्र ऋषि दयानन्द आर्योद्देश्यरत्नमाला के विषयों पर ही व्याख्यान देते थे, गुजराँवाला में उन्होंने आर्योद्देश्यरत्नमाला के सारे विषय १८ दिन में समाप्त किये थे। इससे इसकी अत्यन्त महत्ता प्रकट होती है। आर्योद्देश्यरत्नमाला के प्रणयन को १२८ वर्ष हो गये हैं। भाषा का प्रवाह, विन्यास, विराम एवं शब्दों की ग्राह्यता में परिवर्तन हुआ है, यह भाषागत विकास है। सामान्य जन-जीवन के क्षेत्र में वैदिक सिद्धान्त के ज्ञान का ह्रास ही हुआ है, भौतिक ज्ञान एवं संसाधनों की उन्नति अवश्य हुई है। लोगों का दृष्टिकोण भौतिकवादी हो गया है। अतः आध्यात्मिक-वैदिक सिद्धन्तों के अर्थों एवं भावों को समझना कठिन प्रतीत हो रहा है, इसलिये मानव के उद्देश्यभूत इन अनमोल रत्नस्वरूप सिद्धान्तों की व्याख्या कहीं संक्षिप्त, कहीं विशद एवं कहीं पर संयुक्त रूप में की है, कहीं जो अति स्पष्ट एवं सुव्यक्त थी, उसकी व्याख्या नहीं की है। आकांक्षा है कि प्रत्येक मनुष्य इन सिद्धान्तों को पढ़े, सुने, समझे और आचरण में लाये अर्थात् आर्य बने तथा दूसरों को पढ़ाकर, सुनाकर, समझाकर और आचरण में प्रवृत्त करा कर आर्य बनावे। यही वेद की आज्ञा है, यही ईश्वर की इच्छा है और यही मुख्यतः आर्यावर्त्त के दुर्दिन को सुदिन में बदलने का उपाय है।। **-आचार्य परमदेव मीमांसक**

आर्योद्देश्यरत्नमाला

१. **ईश्वर**-जिस के गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं, जो केवल चेतनमात्र वस्तु है तथा एक, अद्वितीय, सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्यगुण वाला है और जिस का स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है। जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सब जीवों को पाप, पुण्य के फल ठीक ठीक पहुँचाना है। उसको **ईश्वर** कहते हैं।।

व्याख्या-ईश्वर के सत्यगुण, सत्यकर्म, सत्य-स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं अर्थात् ईश्वर के गुण कभी नहीं बदलते हैं। कर्म उद्देश्य को पूर्ण करने वाले होते हैं, स्वभाव बदलता नहीं है और स्वरूप कभी परिवर्तित नहीं होता है। वह केवल चेतनमात्र वस्तु है, जीव भी चेतन है परन्तु वह प्रकृति के साथ संयुक्त होता है, ईश्वर इस प्रकार से भी कभी संयुक्त नहीं होता है। वह एक है, अद्वितीय है।

ईश्वर के सत्य गुण-अद्वितीय, सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि तथा अनन्त आदि हैं।

ईश्वर के सत्य कर्म-जगत् की उत्पत्ति, पालन, विनाश और सभी जीवों को पाप-पुण्य के फल ठीक-ठीक पहुँचाना है।

ईश्वर के सत्य स्वभाव-अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मा आदि है।

ईश्वर का स्वरूप-चेतन मात्र वस्तु तथा ईश्वर का मुख्य नाम **'ओम्'** है।।

२. **धर्म**-जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपात रहित न्याय, सर्वहित करना है। जो कि

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिये यही एक धर्म मानना योग्य है; उस को धर्म कहते हैं।

***व्याख्या*-जो पक्षपात रहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा, वेदों से अविरुद्ध है उसको धर्म मानता हूँ।** (सत्यार्थप्रकाश-स्व० प्रकाश)

ईश्वर की आज्ञा अर्थात् वेदों की आज्ञा का पालन ठीक-ठीक करना तथा सब के हित के लिए पक्षपात रहित न्याय और सत्यभाषणादि करना धर्म है। यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित होने से ग्रहण करने के योग्य होता है।।

३. अधर्म-जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर और पक्षपात सहित अन्यायी होके बिना परीक्षा करके अपना ही हित करना है। जिसमें अविद्या, हठ, अभिमान, क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेद-विद्या से विरुद्ध है, इसलिये यह अधर्म सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है, इससे यह अधर्म है।।

***व्याख्या*-जो पक्षपातसहित, अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि, ईश्वराज्ञाभंग, वेदविरुद्ध है, उस को 'अधर्म' मानता हूँ।** (सत्यार्थप्रकाश-स्व० प्रकाश)

ईश्वर की आज्ञा का भङ्ग करना अर्थात् वेद की आज्ञा का उल्लंघन करना अधर्म है; अपने हित के लिये पक्षपात करते हुए अन्याय का आचरण तथा मिथ्याभाषणादि करना **अधर्म** है।।

४. पुण्य-जिसका स्वरूप विद्यादि शुभगुणों का दान और सत्यभाषणादि सत्याचार का करना है; उसको **पुण्य** कहते हैं।

व्याख्या-विद्या, बल प्राप्ति के उपाय, धनागम के उपाय आदि जो शुभ गुण हैं, इसका दान जिस से दूसरे भी विद्वान्, बलवान् और धनवान् बन सकें, पुण्य कार्य है तथा सत्यभाषण, बल से रक्षा करना, भूख-प्यास-कष्ट को दूर करना आदि जो सत्याचार है, **पुण्य**

कहलाता है।।

५. **पाप**–जो पुण्य से उल्टा और मिथ्याभाषणादि करना है; उसको **पाप** कहते हैं।।

व्याख्या–अविद्या फैलाना, दूसरों को सताना, धन का हरण करना आदि पाप हैं तथा जो मिथ्याभाषण, कपट, कुटिलता आदि दुष्टाचार हैं ये भी पाप हैं, क्योंकि इन सभी से दूसरों को तथा स्वयं को दुःख ही मिलता है।।

६. **सत्यभाषण**–जैसा कुछ अपने आत्मा में हो और असम्भवादि दोषों से रहित करके सदा वैसा सत्य ही बोले; उस को **'सत्यभाषण'** कहते हैं।।

व्याख्या–जितना हमें ज्ञान है, उस के अनुसार ही बोलना सत्य है परन्तु उसे प्रमाणादि से स्वयं विचार भी कर लें कि यह असम्भव आदि दोषों से युक्त न हो। जैसे किसी ने बताया कि आदमी के सींग होते हैं तो ज्ञान तो हमें हो गया परन्तु अब परीक्षा करें–आदमियों के सींग प्रत्यक्ष तो दीखते नहीं, अतः प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान नहीं, अनुमान के अभाव में उपमान भी नहीं, शब्दमात्र है, अतः विचारें कि यह शब्द आप्त का है अथवा अनाप्त का, यदि आप्त का नहीं है तो मानने योग्य नहीं, ऐतिह्य अर्थात् आप्तों के लिखे इतिहास में भी नहीं है, अतः इन प्रमाणों के ना होने से अर्थापत्ति भी नहीं हो सकती, इससे यह निर्णय किया कि यह सम्भव नहीं है। इसलिये यह वाक्यार्थ कि आदमी के सींग होते हैं, ग्राह्य नहीं है, असत्य है इसे न मानना सत्यज्ञान और न कहना ही **सत्यभाषण** है।।

७. **मिथ्याभाषण**–जो कि सत्यभाषण अर्थात् सत्य बोलने से विरुद्ध है; उसको **असत्यभाषण** कहते हैं।।

व्याख्या–स्वार्थ, प्रमाणादि से परीक्षा न कर पाने की क्षमता,

कुटिलता आदि के कारण जैसे स्वयं को ज्ञान है उससे विपरीत बोलना। जैसे- दुकानदार ने १०रु० में वस्तु खरीदी परन्तु ग्राहक से स्वार्थहित कहते हैं कि यह वस्तु तो खरीदी ही हमने १५ रु० की है और देते हैं १३ रु० की तो यह मिथ्याभाषण हुआ परन्तु यदि इस प्रकार हो कि यह वस्तु तो १० रु० की है, ३ रु० लाभ लेकर १३ रु० की दूँगा तो यह सत्यभाषण होगा और ऐसा व्यवहार सत्यव्यवहार कहलायेगा।।

८. **विश्वास**–जिस का मूल अर्थ और फल निश्चय करके सत्य ही हो; उसका नाम **'विश्वास'** है।।

व्याख्या–जिसका मूल वस्तु हो, अर्थात् जो सत्तात्मक हो केवल ख्याली कल्पना न हो, अपितु प्रमाणादि से युक्त हो और फल निश्चय करके सत्य ही हो उसका नाम विश्वास है; जैसे कि देवदत्त कक्षा में सर्वप्रथम आयेगा ऐसा हमें विश्वास है तो यहां सर्वप्रथम देवदत्त तो होना ही चाहिए इसकी सत्ता के अभाव में फल क्या होगा? कुछ नहीं, यह ख्याली कल्पना मात्र होगी; और देवदत्त के होने पर भी यदि उसकी बुद्धि तीव्र न हो, पुरुषार्थी न हो तो यह आस्था कभी भी फलवती नहीं होगी, कोरी कल्पना मात्र होगी, अतः प्रमाणादि से सम्भव होने पर आस्था रखना (मानना) ही **विश्वास** है।

९. **अविश्वास**–जो विश्वास से उल्टा है। जिस का तत्त्व अर्थ न हो; वह **'अविश्वास'** कहाता है।।

व्याख्या–जिसकी सत्ता ही न हो उसको मानना अविश्वास है, अथवा किसी की सत्ता (अस्तित्व) हो परन्तु उसको न मानना भी अविश्वास कहलाता है। जैसे भूत को मानना अविश्वास है, उसी तरह ईश्वर को न मानना भी **'अविश्वास'** है।।

१०. **परलोक**–जिसमें सत्यविद्या करके परमेश्वर की प्राप्ति पूर्वक इस जन्म व पुनर्जन्म और मोक्ष में परम सुख प्राप्त होना है; उसको **'परलोक'** कहते हैं।।

व्याख्या–वेद, उपनिषद्, योगादि विद्या को ग्रहण करके परमेश्वर को इसी जन्म में समाधि में प्राप्त करके परमसुख पाना, योग में युक्त रहने पर श्रेष्ठ (दूसरे) जन्म को प्राप्त करना, योग में पूर्णता पर शरीर त्याग कर मोक्ष (आनन्द) को प्राप्त करना **'परलोक'** है।।

११. अपरलोक–जो परलोक से उलटा है जिसमें दुःखविशेष भोगना होता है वह **'अपरलोक'** कहाता है।।

व्याख्या– समाधि आदि सुख को छोड़ इस जन्म में जो दुःख भोगना पड़ता है, अपरलोक कहलाता है, इसी में दुःखविशेष भोगने पड़ते हैं।

१२. जन्म–जिसमें किसी शरीर के साथ संयुक्त होके जीव कर्म करने में समर्थ होता है, उसको **'जन्म'** कहते हैं

व्याख्या–**'जन्म' जो शरीर धारण कर प्रकट होना सो पूर्व, पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूँ।**

(सत्यार्थप्रकाश–स्व० प्रकाश)

शरीर धारण कर प्रकट होना जन्म है, यह पूर्व जन्म, वर्तमान जन्म और भावी जन्म तीनों प्रकार का होता है। पहले शरीर धारण किया था वह पूर्वजन्म, जिस शरीर में इस समय हैं वह वर्तमान जन्म, और भविष्य में जिस शरीर के साथ संयुक्त होगा वह भावी **जन्म** कहलाता है।

१३. मरण–जिस शरीर को प्राप्त होकर जीव क्रिया करता है उस शरीर और जीव का किसी काल में जो वियोग हो जाना है, उसको **'मरण'** कहते हैं।

व्याख्या–शरीर से जीव के वियोगमात्र को **मरण** (मृत्यु) कहते हैं।।

१४. स्वर्ग–जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव

का प्राप्त होना है, वह **स्वर्ग** कहाता है।

***व्याख्या*-स्वर्ग नाम सुख विशेष भोग और उस की सामग्री की प्राप्ति का है।** (सत्यार्थप्रकाश-स्व० प्रकाश)

सामान्य सुख तो मिलते रहते हैं, परन्तु जब विशेष सुख जैसे राज्य आदि मिलें तो यही स्वर्ग की प्राप्ति है।

१५. नरक-जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उसको **नरक** कहते हैं।

***व्याख्या*-नरक जो दुःख विशेष भोग और उस की सामग्री को प्राप्त होना है।** (सत्यर्थप्रकाश-स्व० प्रकाश)

विशेष दुःख जैसे गलित कीटयुक्त कुष्ठ आदि की प्राप्ति ही **नरक** है।

१६. विद्या-जिससे ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्यविज्ञान होकर उन से यथायोग्य उपकार लेना होता है इसका नाम **'विद्या'** है।

व्याख्या-विद्या ज्ञान का नाम है, किसी ग्रन्थमात्र का नहीं। ऐसा ज्ञान जो ठीक-ठीक हो, भ्रमादि से रहित हो, उससे ईश्वर से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त पदार्थों का यथावत् बोध होवे और इन तत्त्वों से यथायोग्य उपकार लिया जावे, विद्या कहाती है। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद के द्वारा ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का बोध होता है, ऋषियों द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थ भी इन पदार्थों के बोध में सहायक होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक और तत्ववेत्ता जिन पदार्थों का बोध कराते हैं, वे पूर्णतः निर्भ्रान्त नहीं होते हैं। यही कारण है कि इनके सिद्धान्त बदलते रहते हैं, परन्तु जो प्रायोगिक रूप हैं वे ग्राह्य हैं, उपकार लेने के योग्य हैं।।

१७. अविद्या-जो विद्या से विपरीत है, भ्रम, अन्धकार और

अज्ञानरूप है, इसलिए इस को **'अविद्या'** कहते हैं।

व्याख्या–मन:कल्पित विचार जो प्रमाणादि से रहित अर्थात् मुख्यत: प्रत्यक्ष, अनुमान और वेद रूपी शब्दप्रमाण से रहित हो, अज्ञानरूप तथा भ्रमरूप ही है। जैसे–बाइबिल में पृथ्वी को चपटी कहा है, परन्तु यह अज्ञानरूप ही है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष और अनुमान नहीं घटता है। पृथ्वी से ऊपर जाने पर यह गोल दिखाई पड़ती है, और वेद में भी गोल कहा हुआ है। अत: यह बाइबिल के रचयिताओं का मन:कल्पित विचार **'अविद्या'** ही है।

१८. सत्पुरुष–सत्यप्रिय, धर्मात्मा, विद्वान्, सब के हितकारी और महाशय होते हैं, वे **सत्पुरुष** कहाते हैं।

व्याख्या–सत्य ही जिन को प्रिय है, जो धर्म का पालन करते हैं, वेदों के जानकार हैं, सब का हित करने वाले हैं, जिनका विचार उच्च होता है और जिन का उद्देश्य मोक्षगामी होता है; वे **सत्पुरुष** कहलाते हैं।

१९. सत्संग–जिस करके झूठ से छूट के सत्य की ही प्राप्ति होती है, उसको **'सत्संग'** और जिस करके पापों में जीव फंसते हैं, उस को **कुसंग** कहते हैं।

व्याख्या– ईश्वर, वेद, धर्मात्मा विद्वान् आदि के संग रहने से झूठ से छूटकर सत्य की ही प्राप्ति होती है। ईश्वर की उपासना, वेद का अध्ययन, धर्मात्मा विद्वानों के साथ रहकर उनका अनुकरण करने से असत्य छूटकर सत्य की उपलब्धि होती है और जड़ मूर्तियों की चेतनवत् पूजा, सत्यज्ञान रहित ग्रन्थों का अध्ययन तथा दुष्टों के संग करने से जीव पापों में फंसते हैं, उस को **कुसंग** कहते हैं।

२०. तीर्थ–जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का संग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं, वे सब तीर्थ कहाते हैं क्योंकि इन करके जीव दु:खसागर से तर जा सकते हैं।

व्याख्या–विद्या का पढ़ना, अच्छे विचार, ईश्वर की उपासना, धर्म का अनुष्ठान, सत्संग, बह्मचर्य, जितेन्द्रियता आदि जो उत्तम कर्म हैं, वे सब तीर्थ कहाते हैं। क्योंकि इन को करके मनुष्य दु:खसागर से तर जाते हैं अर्थात् दु:खों से छूट जाते हैं।

२१. स्तुति–जो ईश्वर वा किसी दूसरे पदार्थ के गुणज्ञान, कथन, श्रवण और सत्यभाषण करना है, वह **'स्तुति'** कहाती है।

व्याख्या–**'स्तुति' गुणकीर्तन, श्रवण और ज्ञान होना; इसका फल प्रीति आदि होते हैं।**

(सत्यार्थप्रकाश–स्वम० प्रकाश)

ईश्वर के गुणों का ज्ञान होना, उन गुणों को कहना उसको सुनना और वैसा ही सुनाना स्तुति है। जिन मन्त्रों में ईश्वर के गुणों का ज्ञान हो वह स्तुतिपरक मन्त्र कहाता है, उसका उच्चारण करना स्तुति है, दूसरों से उसको सुनना और ग्रहण करके अर्थ विचार करना स्तुति है। सत्यभाषण करना स्तुति है, क्योंकि जो वस्तु जैसी है वैसी ही कहने का नाम सत्यभाषण है। इसी प्रकार अन्य पदार्थ के गुणों का ज्ञान, कथन, श्रवण भी स्तुति है। जैसे राजा, प्रजा एवं परमाणु आदि के गुणों का ज्ञान होना। उसे कहना और गुणों को सुनना **स्तुति** है।

२२. स्तुति का फल–जो गुणज्ञान आदि के करने से गुण वाले पदार्थों में प्रीति होती है**,** वह **स्तुति का फल** कहाता है।

व्याख्या–किसी भी वस्तु के गुणों के ज्ञान, कथन और श्रवण से उस वस्तु में प्रीति होती है, तभी हम श्रद्धायुक्त हो उसका ग्रहण और उपयोग यथायोग्य कर पाते है।

२३. निन्दा– जो मिथ्याज्ञान, मिथ्याभाषण, झूठ में आग्रहादि क्रिया का नाम निन्दा है कि जिससे गुण छोड़कर उनके स्थान में अवगुण लगाना होता है।

व्याख्या–किसी पदार्थ के विषय में यथार्थ ज्ञान का न होना,

स्वार्थ, कुटिलता आदि के कारण वह पदार्थ जैसा नहीं है वैसा मानना तथा कहना निन्दा है। जैसे देवदत्त को अभिमानी मानना, यथार्थ में देवदत्त अभिमानी नहीं है, परन्तु अज्ञानता से उसे अभिमानी माना तो उसके सरलता गुण के स्थान में अभिमान अवगुण लगा दिया। मिथ्याभाषण तो स्पष्ट निन्दा है ही। जैसे देवदत्त के विषय में मिथ्याज्ञान हुआ तथा कह भी दिया कि देवदत्त अभिमानी है तो यह निन्दा ही हुआ । स्पष्ट ज्ञात है कि श्राद्ध मृतक का नहीं होता है, तब भी उसे मानते रहना, करते रहना निन्दा ही है जो श्राद्ध के सत्य अर्थ के स्थान पर झूठे अर्थ को मान कर अभी भी ढोये चले जा रहे हैं।

२४. प्रार्थना– अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिये परमेश्वर वा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य का सहाय लेने को **'प्रार्थना'** कहते हैं।

व्याख्या–श्रेष्ठ कर्मों की सिद्धि के लिये सर्वप्रथम अपना पूर्ण पुरुषार्थ कर लें, इसके बाद भी यदि न्यूनता है तो उसकी पूर्णता हेतु परमेश्वर से विज्ञान आदि के लिये याचना करने का नाम, अथवा जो उसे पूर्ण कर सके ऐसे मनुष्य की सहायता प्राप्त करने के लिये याचना करने का नाम **प्रार्थना** है।

२५. प्रार्थना का फल–अभिमान–नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना, **'प्रार्थना का फल'** है।

व्याख्या–कार्य की सिद्धि में जो अभिमान आदि आ जाते हैं, प्रार्थना से उसका नाश हो जाता है क्योंकि कार्य की पूर्णता तो परमेश्वर के साहाय्य से ही हुई है, इस परिज्ञान से आत्मा में नम्रता आ जाती है। गुण–ग्रहण में पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है कि अब मैं स्वयं सिद्धि को प्राप्त होऊँ, सहाय न लेना पड़े इसलिये उन गुणों को ग्रहण करूँ जिनसे सिद्धि होती है। साथ ही साथ जिनसे साहाय्य मिला

उनसे अत्यन्त प्रीति भी होती है, इत्यादि **प्रार्थना का फल** है।

२६. उपासना-जिस करके ईश्वर ही के आनन्द-स्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उसको **उपासना** कहते हैं।

***व्याख्या*-जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव हैं वैसे अपने करना , ईश्वर को सर्वव्यापक और अपने को व्याप्य जानके ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना उपासना कहाती है, इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है।**

(सत्यार्थप्रकाश-स्वम० प्रकाश)

ईश्वर के सदृश अपने गुण, कर्म, स्वभाव को पवित्र करते हुए अष्टांगयोग के अभ्यास से समाधि में ईश्वर जो आनन्दस्वरूप है उसी में अपने को एक सा करते हुए आनन्द में मग्न होने को उपासना कहते हैं।

२७. निर्गुणोपासना-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग-वियोग, हल्का, भारी, अविद्या, जन्म, मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर जो उसकी उपासना करनी है, उसको **'निर्गुणोपासना'** कहते हैं।

***व्याख्या*-जो-जो गुण परमेश्वर में नहीं है, उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना निर्गुण स्तुति, दोष छुड़ाने के लिए परमात्मा का सहाय चाहना निर्गुण प्रार्थना, और सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके स्वरूप में निमग्न और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना *निर्गुण उपासना* कहलाती है।** (सत्यार्थप्रकाश-स्वम० प्रकाश)

शब्द, स्पर्श आदि गुण परमात्मा में नहीं हैं ऐसा निश्चय जान अपने आत्मा को समाधि में उसके स्वरूप में निमग्न कर देना, और संसार में वेद की आज्ञा के अनुसार चलना **निर्गुण उपासना** है।

२८. सगुणोपासना-जिस की सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य, आनन्द, सर्वव्यापक, एक, सनातन, सर्वकर्त्ता, सर्वाधार, सर्वस्वामी, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता सब जगत् का रचने वाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्यगुणों से युक्त जानके जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो **'सगुणोपासना'** कहाती है।

***व्याख्या*-जो-जो गुण परमेश्वर में हैं, उनसे युक्त प्रशंसा करना सगुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की ईश्वर से इच्छा सगुण प्रार्थना, और सब गुणों से सहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके स्वरूप में निमग्न और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना *'सगुण उपासना'* कहाती है।**

(सत्यार्थप्रकाश-स्वम० प्रकाश)

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्यादि गुण सम्पन्न परमात्मा है, ऐसा निश्चय जान अपने आत्मा को समाधि में उसके स्वरूप में निमग्न कर देना और संसार में वेद की आज्ञा के अनुसार चलना **सगुण उपासना** है।

२९. मुक्ति-अर्थात् जिस से सब बुरे कामों और जन्म-मरणादि दुःखसागर से छूटकर सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना, **'मुक्ति'** कहाती है।

***व्याख्या*-मुक्ति अर्थात् सर्व दुःखों से छूटकर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।** (सत्यार्थप्रकाश-स्वम० प्रकाश)

शरीर के रहने पर अच्छे-बुरे कर्म होते रहेंगे, मुक्त पुरुष ही केवल मोक्षवत् सुख भोगते हैं, न पुण्य और न ही पाप करते हैं, अन्यथा अल्पज्ञता के कारण ये कर्म होते रहेंगे। जब तक कैवल्य की

प्राप्ति न हो जाये तब तक जन्म-मरणादि दुःखसागर से छूटना असम्भव है। जब कैवल्य की प्राप्ति होकर चित्तादि अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं तो सब बुरे कामों एवं जन्म-मरणादि दुःखसागर से छूटकर आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होकर आनन्द को भोगना **मुक्ति** कहाती है। इसकी अवधि ३६००० बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय जितनी है।

३०. मुक्ति के साधन-अर्थात् जो पूर्वोक्त ईश्वर की कृपा स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना तथा धर्म का आचरण, पुण्य का करना, सत्संग, विश्वास, तीर्थसेवन, सत्पुरुषों का संग परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना और सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना है, ये सब **'मुक्ति के साधन'** कहाते हैं।

***व्याख्या*-मुक्ति के साधन ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यद्यिा, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।**

(सत्यार्थप्रकाश-स्वम० प्रकाश)

सर्वप्रथम दुःख देनेवाले दुष्ट कर्मों को छोड़ सुखप्रदान करने वाले अच्छे कर्मों को करें, क्योंकि पापाचरण दुःख का और धर्माचरण सुख का मूल कारण है, पुरुषार्थी हो आप्त विद्वानों के संग से ब्रह्मचर्य पूर्वक सत्यविद्या अर्थात् वेद का अध्ययन करें । विवेक, वैराग्य, षट्क सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व, अनुबन्ध-चतुष्टय और श्रवण-चतुष्टय को धारण करते हुए योगाभ्यास की उच्चतर भूमि समाधि के द्वारा पञ्चक्लेशों को दग्ध करके कैवल्य की उपलब्धि करके चित्तादि को कारण में प्रतिप्रसव की ओर उन्मुख करते हुए ईश्वर की कृपा से मोक्ष को प्राप्त करें।

३१. कर्त्ता-जो स्वतन्त्रता से कर्मों का करने वाला है अर्थात् जिसके स्वाधीन सब साधन होते हैं, वह **कर्त्ता** कहाता है।

व्याख्या–शरीर, इन्द्रियाँ आदि का निर्माण ईश्वर ने करके जीव को इसमें स्थापित किया है, तथा जीव के अधीन ही ये शरीर आदि रखे हैं, अतः इन शरीर, इन्द्रियादि से कार्य करने वाला जीव ही कर्त्ता है। मनुष्य इस शरीर आदि से चाहे अच्छा कर्म करे, चाहे बुरा कर्म करे, ईश्वर कभी हाथ पकड़ने नहीं आयेगा, कर्म करने में स्वतन्त्रता दे रखी है।

३२. कारण–जिस को ग्रहण करके ही करने वाला किसी कार्य चीज को बना सकता है अर्थात् जिसके बिना कोई चीज बन ही नहीं सकती, वह **'कारण'** कहाता है। सो तीन प्रकार का है।

३३. उपादान कारण–जिसको ग्रहण करके ही उत्पन्न होवे वा कुछ बनाया जाय जैसा कि मिट्टी से घड़ा बनता है। उसको **'उपादान'** कहते हैं।

३४. निमित्त कारण–जो बनाने वाला है जैसा कि कुम्हार घड़े को बनाता है, इस प्रकार के पदार्थों को **'निमित्त कारण'** कहते हैं।

३५. साधारण कारण–जैसे चाक, दण्ड आदि और दिशा, आकाश तथा प्रकाश है, इनको **'साधारण कारण'** कहते हैं।

संयुक्त व्याख्या–वस्तु के निर्माण में जिसके ग्रहण किये बिना वह बन ही नहीं सकती है, उसको कारण कहते हैं। कारण है तो कार्य है। जिस द्रव्य से वस्तु का निर्माण होता है वह उपादान कारण, जो बनाता है वह निमित्त कारण, जो बनाने मे सहायक साधन होता है वह साधारण कारण कहाता है। जैसे–घड़े के निर्माण में–मिट्टी उपादान, कुम्हार निमित्त, चाक–दण्ड–प्रकाश–आकाश –दिशा आदि साधारण कारण होते हैं। सृष्टि के निर्माण में सत्त्व, रज, तम रूपी मूल प्रकृति उपादान कारण, ईश्वर निमित्त कारण; जीवों के पाप–पुण्य कर्म तथा अवकाश आदि साधारण कारण होते हैं। ईश्वर, जीव और मूल प्रकृति का कारण नहीं होता है, ये कारण तो बनते हैं; ईश्वर और

जीव कार्य रूप में कभी परिणत नहीं होते हैं; मूल प्रकृति ही कार्य में परिवर्तित होती है।

३६. कार्य–जो किसी पदार्थ के संयोग से स्थूल होके काम में आता है अर्थात् जो करने के योग्य है, वह उस कारण का **'कार्य'** कहाता है।

व्याख्या–किसी पदार्थ के विशिष्ट संयोग से जो नया पदार्थ बनता है, वह पुराने पदार्थ का कार्य कहलाता है। जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है, घड़ा मिट्टी का कार्य है। यदि मिट्टी का विशेष संयोग न हो तो घड़ा नहीं बन सकता है। मिट्टी के विशिष्ट संयोग से ही घड़ा, सिकोरा, सुराही आदि बनते हैं।

३७. सृष्टि–जो कर्ता की रचना करके कारण द्रव्य किसी संयोग विशेष से अनेक प्रकार कार्यरूप हो कर वर्तमान में व्यवहार करने के योग्य है, वह **सृष्टि** कहाती है।

***व्याख्या*–सृष्टि उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्ति पूर्वक मेल होकर नानारूप बनना।**

(सत्यार्थप्रकाश–स्वम० प्रकाश)

अपने सर्वज्ञ ज्ञान के कारण द्रव्य मूल प्रकृति के तत्त्वों (परमाणु सदृश) को परमेश्वर युक्ति पूर्वक विशेष संयोग करके मिलाता है, तब यह विशिष्ट-विशिष्ट संयोग से अनेक प्रकार कार्यरूप होकर वर्त्तमान में व्यवहार करने के योग्य होती है और सृष्टि कहाती है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपने ज्ञान से युक्तिपूर्वक सृष्टि के पदार्थों को विशेष संयोग से मिलाकर नवीन पदार्थों का निर्माण करता है, यह मानुषी सृष्टि होती है।

३८. जाति–जो जन्म से लेके मरण पर्यन्त बनी रहे। जो अनेक व्यक्तियों में एकरूप से प्राप्त हो। जो ईश्वरकृत अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि समूह हैं, वे **'जाति'** शब्दार्थ से लिये जाते हैं।

व्याख्या–जो जन्म से लेके मरणपर्यन्त बनी रहे तथा अनेक व्यक्तियों में एकरूप से प्राप्त हो । जैसे–मनुष्य और पशु, मनुष्य का जो विशिष्ट आकार–प्रकार, इन्द्रियादि के स्थान, ज्ञान धारण और भाषण आदि है, यह एक संस्थान और विशिष्ट गुणों का एकत्र निधान है, यह अरबों में पाया जाता है, यही अनेकों में पाया जाने वाला गुणयुक्त संस्थान विशेष–जाति से कहा जाता है। जो पृथक्–पृथक् अरबों लोग हैं उन्हें व्यक्ति कहा जाता है। इन व्यक्तियों में जाति निहित होती है, व्यक्ति नष्ट होते रहते हैं, परन्तु जाति नष्ट नहीं होती है। पशु का भी संस्थान विशेष और गुण का एकत्रीकरण जाति से कहा जाता है और यह भी सभी अरबों–खरबों पशुओं में जिन्हें व्यक्ति[१] कहते हैं, निहित होता है। ईश्वर ने मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि जो निर्मित किये हैं, इन्हें जाति से कहा जाता है। यथा मनुष्य जाति, पशु जाति; पशुओं में–गो जाति, अश्व जाति तथा वृक्ष जाति आदि।।

३९. मनुष्य–अर्थात् जो विचार के बिना किसी काम को न करे, उसका नाम **'मनुष्य'** है।

व्याख्या–मनुष्य को सब से यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, दुःख, हानि, लाभ में वर्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्तना बुरा समझता हूँ। (सत्यार्थप्रकाश–स्वम० प्रकाश)

विचार करके जो यथायोग्य स्वात्मवत् अर्थात् जैसे अपने प्रति दूसरों से चाहता है वैसा ही दूसरों के प्रति सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि में व्यवहार करे, मनुष्य कहाता है, इसके विपरीत व्यवहार करना मनुष्यपन नहीं है। सभी कार्य विचार करके करे। आवश्यकता, सम्भाव्यता, सामर्थ्य, लाभ, हानि आदि का निश्चय करके ही कार्य को करे, तभी सिद्धि मिलती है, यही **मनुष्यता** है।

---

१. व्यक्ति अर्थात् किसी एक संस्थान में पायी जाने वाली जाति

४०. आर्य-जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्यविद्यादि गुण युक्त और आर्यावर्त देश में सब दिन से रहने वाले हैं, उन को **'आर्य'** कहते हैं।

व्याख्या-विज्ञानी, सत्यवादी, विनयी, दयालु, अनुग्रही, धैर्यशाली, संयमी, दानशील, सदाचारी, न्यायकारी आदि श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्यविद्या अर्थात् वेद एवं आर्ष ग्रन्थों के ज्ञान से युक्त गुणवालों तथा आर्यावर्त्त देश में सब दिन से रहने वालों को **आर्य** कहते हैं।

४१. आर्यावर्त्त देश-हिमालय, विन्ध्याचल, सिन्धु नदी और ब्रह्मपुत्र नदी इन चारों के बीच में जहाँ तक उन का विस्तार है, उनके मध्य में जो देश है, उसका नाम **'आर्यावर्त्त'** है

***व्याख्या*-आर्यावर्त्त देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं परन्तु इस की अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी है । इन चारों के बीच में जितना देश है, उसको *'आर्यावर्त्त'* कहते हैं। और जो इसमें सदा रहते हैं उनको भी आर्य कहते हैं।** (सत्यार्थप्रकाश-स्वम० प्रकाश)

आर्यों के आदि से इस धरा पर रहने के कारण इस को आर्यावर्त्त कहते हैं। आर्यों की संख्या वृद्धि के साथ-साथ भौगोलिकता में भी वृद्धि होती जाती है, आर्यों के निवास के कारण वह स्थान भी निःसन्देह आर्यावर्त्त से ही जाना जायेगा। ऐसा नहीं है कि पहले वहाँ कोई अन्य असभ्य जाति रहती थी जिस को हटाकर वे वहाँ रहने लगे हों, अपितु वहाँ किसी का भी निवास नहीं था, सर्वप्रथम आर्यों ने ही उसको निवास के योग्य बनाकर निवास करना प्रारम्भ किया और वह स्थान भी आर्यावर्त्त का अंगभूत बन गया। जब यह आर्य जाति अविद्या, आलस्य, प्रमाद आदि के कारण वेद-विमुख होने लगी तो इसका पराभव और स्थान संकुचित होने लगा, तब ये

आर्य लोग अपने पूर्वजों के द्वारा पोषित-पालित अपनी पैतृकभूमि को गंवाकर अवशिष्ट भूमि में ही रहने के लिये विवश और बाध्य हो गये। वर्त्तमान में यह आर्यावर्त्त कश्मीर से कन्याकुमारी और कच्छ से कच्छार तक के भूभाग में सीमित है।

४२. **दस्यु**-अनार्य अर्थात् जो अनाड़ी, आर्यों के स्वभाव निवास से पृथक् डाकू, चोर, हिंसक कि जो दुष्ट मनुष्य है, वह **'दस्यु'** कहाता है।

व्याख्या-अनार्य (अनाड़ी) अर्थात् अधार्मिक, अविद्वान्, मद्यपायी आर्यों के स्वभाव से पृथक् अर्थात् क्रूर, मांसभक्षी, नास्तिक और परपीड़क है, आर्यावर्त्त से पृथक् रहते हैं तथा जो आर्यावर्त्त में रहते हुए भी आर्यत्व से रहित क्रूर तथा मांसभक्षी, मद्यपायी आदि हैं वे भी अनार्य हैं। ये अनार्य जो डाकू, चोर, हिंसक कि जो दुष्ट मनुष्य हैं, **दस्यु** कहाते हैं।

४३. **वर्ण**-जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया है, वह वर्ण शब्दार्थ से लिया जाता है।

४४. **वर्ण के भेद**-जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि हैं, वे **'वर्ण'** कहाते हैं।

संयुक्त व्याख्या-जैसा गुण और कर्म हो उसी के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र होते हैं। पूर्वजन्म के संस्कारों, वर्त्तमान जन्म में माता-पिता के संस्कारों एवं शिक्षा आदि के कारण अर्जित गुणों एवं कर्मों से वर्ण को प्राप्त होते हैं। केवल जन्म के आधार से वर्ण-व्यवस्था नहीं होती है। अपितु उच्चकुल में जन्मा बालक भी संस्कार एवं विद्या से रहित होकर गुण तथा कर्म से भ्रष्ट हुआ शूद्र है, यदि अधार्मिक है तो अनार्य हुआ, वहीं निम्नकुल में उत्पन्न हुआ पूर्वधृत संस्कार, गृहीत विद्या तथा अच्छे कर्मों से श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर उच्चकुल का आधान करता है,यदि विद्या न भी हो, परन्तु धार्मिकता

हो; तो आर्यावर्त्तीय होने के कारण सभी आर्य हैं। परन्तु जो धर्महीन एवं भ्रष्ट हो, भले ही वह विद्वान् ही क्यों न हो, तो वे सभी अनार्य ही हैं।

४५. आश्रम–जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम–गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जायें उनको **'आश्रम'** कहते हैं।

४६. आश्रम के भेद–जो सद्विद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण तथा जितेन्द्रियता आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाने के लिये **ब्रह्मचारी,** जो संतानोत्पत्ति और विद्यादि सब व्यवहार को सिद्ध करने के लिये **गृहाश्रम,** जो विचार के लिये **वानप्रस्थ** और सर्वोपकार करने के लिये **संन्यासाश्रम** होता है, ये **'चार आश्रम'** कहाते हैं।

व्याख्या–मनुष्य की आयु को चार भागों में बाँटा गया है, एक–एक भाग में उस–उस भाग के अनुरूप अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ कार्य किये जाते हैं, इसलिए प्रति भाग को आश्रम कहते हैं। चारों आश्रमों में स्वाभाविक है, जो प्रथम होगा, अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा, प्रथम आश्रम **ब्रह्मचर्य आश्रम** कहलाता है, इसमें सत्य विद्या अर्थात् वेदाध्ययन, आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन, शुभ गुणों का ग्रहण, श्रेष्ठ आचरण, जितेन्द्रयता से आत्मिक बल अर्थात् ज्ञान की वृद्धि, श्रेष्ठ–व्यवहार और शरीर के बल को बढ़ाते हैं। द्वितीय आश्रम में सद् विद्यादि का अध्यापन, सन्तानोत्पत्ति, सांसारिक एवं पारमार्थिक व्यवहारों को सिद्ध करते हैं, इस को **गृहस्थाश्रम** कहते हैं। तृतीय आश्रम में आत्मा, परमात्मा, समाज, नैतिकता, राष्ट्रीयता आदि विषयों पर एकान्त में विचारमन्थन होता है, इस को **वानप्रस्थ** कहते हैं। इसमें मुख्यतः परमात्मा और आत्मा का विचार अर्थात् स्वाध्याय–श्रवण–मनन और निदिध्यासन करना होता है। पूर्णविद्या, वैराग्य, ईश्वर और धर्म पर अत्यन्त श्रद्धा युक्त हो मोक्षप्राप्ति तथा समस्त प्राणियों पर उपकार करने हेतु चतुर्थ आश्रम **संन्यासाश्रम** होता है।

४७. **यज्ञ**-जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त जो शिल्प-व्यवहार और जो पदार्थ-विज्ञान है, जो कि जगत् के उपकार के लिये किया जाता है, उसको **यज्ञ** कहते हैं।

***व्याख्या*-यज्ञ उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार यथायोग्य शिल्प अर्थात् रयायन जो कि पदार्थविद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ।**

(सत्यार्थप्रकाश-स्वम०प्रकाश)

यज्ञ है देवों की पूजा, संगतिकरण और दान। विद्वानों एवं माता-पिता आदि को देव कहते हैं। इनका यथायोग्य सत्कार-सेवा-शुश्रूषा आदि देवों की पूजा; पदार्थों के ज्ञान पूर्वक उनका उचित परस्पर मेल आदि करके जो भौतिक एवं रसायन विद्या (शिल्प) है वह संगतिकरण; इसमें अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त जो याग विशेष हैं उनसे भी शिल्प विद्या सीखते हैं। व्यवहार सीखते हैं, याग रसायन विद्या तो है ही; इनसे जगत् का महा उपकार होता है, वायु शुद्धि, वृष्टि, जल शुद्धि एवं ओषधियां उत्तम होती हैं। शिल्पविद्यादि का याथोग्य उपयोग लेना होता है। विद्या का दान सर्वोपरि दान है, इसमें वेदविद्या का पढ़ाना सर्वोत्तम है; भौतिक विद्यादि जो वेदों से ही नि:सृत है, युक्तियुक्त और प्रत्यक्ष सिद्ध है इसे वैज्ञानिकों ने अत्यन्त पश्रिम करके प्रत्यक्षीभूत किया है, इसको पढ़ाना अगली पीढ़ियों को एवम् इस भौतिक ज्ञान को भी समुन्नत बनाना है। शुभगुणों को धारण करवाना भी बहुत बड़ा दान है; विद्या का धारण भी शुभ गुण है, दयालुता, नम्रता, शीलता, आस्तिकता आदि का ग्रहण करवाना महोपकार का कार्य है, श्रेष्ठ व्यवहार तथा आचरण सिखाना भी मनुष्यों को सुख ही पहुँचाता है; अपने-अपने द्वारा उपार्जित विद्या, बल, धन, गुणादि को दूसरों को देना, ग्रहण करवाना

ही दान है।।

४८. कर्म-जो मन, इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टा विशेष करता है सो कर्म कहाता है। वह शुभ, अशुभ और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है।

व्याख्या-जीव मन से संकल्प करता है; अच्छा या बुरा सोचता है, यह मानसिक कर्म है; इन्द्रियों में वाणी से जो बुरा बोलता है, वह वाचिक कर्म कहलाता है; हाथ, पैर, रसना, चक्षु आदि से जो प्रयत्न किया जाता है वह शारीरिक कर्म कहलाता है। यह कर्म शुभ (पुण्य), अशुभ (पाप) और मिश्र अर्थात् पुण्य और पाप मिला हुआ तीन प्रकार का होता है।

४९. क्रियमाण-जो वर्तमान में किया जाता है सो **'क्रियमाण कर्म'** कहाता है।

व्याख्या-वर्तमान जीवन में किये जाते हुये कर्म को क्रियमाण (किया जाता हुआ) कर्म कहते हैं।

५०. सञ्चित-जो क्रियमाण का संस्कार ज्ञान में जमा होता है, उसको **'सञ्चित'** कहते हैं।

व्याख्या-जो कर्म हम करते जाते हैं, वह क्रिया तो नष्ट होती जाती है, परन्तु उसको कैसे किया, क्या-क्या कठिनाई आयी, क्या सुख वा दु:ख मिला, क्या सावधानी अतिरिक्त हो जिस से परिणाम सुखद हो, आदि-आदि के संस्कार ज्ञान (स्मृति रूप) में जमा होते जाते हैं, इसको **सञ्चित** कहते हैं।

५१. प्रारब्ध-जो पूर्व किये हुए कर्मों का सुख-दु:ख रूप फल भोग किया जाता है, उसको **प्रारब्ध** कहते हैं।

व्याख्या-जो पूर्वजन्म वा उससे भी पूर्व किये हुए कर्म हैं, उन कर्मों के आधार से यह वर्तमान शरीर आदि मिलते हैं और इनसे सुख वा दु:ख रूप फल भोगे जाते हैं, उस कर्म को प्रारब्ध कहते हैं,

प्रारब्ध को भोगना ही पड़ता है, क्षमा नहीं होता है; यही **प्रारब्ध** भाग्य कहाता है।

५२. अनादि पदार्थ–जो ईश्वर, जीव और जगत् का कारण है, ये तीन पदार्थ स्वरूप से **अनादि** हैं।

***व्याख्या*–अनादि पदार्थ तीन हैं–एक ईश्वर, दूसरा जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।** (सत्यार्थप्रकाश–स्वम० प्रकाश)

ईश्वर, जीव, प्रकृति (सत्त्व, रज, तमोगुण रूप) ये तीन नित्य पदार्थ हैं अर्थात् न इनका आदि है और न इनका अन्त होगा। ये स्वरूप से ही अनादि और बिना अन्त वाले हैं, इनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य रहने वाले हैं। जीव के नैमित्तिक गुण, कर्म, स्वभाव भी होते हैं, परन्तु ईश्वर के कदापि नहीं।

५३. प्रवाह से अनादि पदार्थ–जो कार्यजगत्, जीव के कर्म और जो इनका संयोग–वियोग है, ये तीन परम्परा से अनादि हैं।

***व्याख्या*–जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उनमें अनादि है और उससे पुनरपि संयोग तथा वियोग भी, इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूँ।**

(सत्यार्थप्रकाश–स्वम०प्रकाश)

सत्त्व, रज, तमोगुण रूप प्रकृति से परमेश्वर सृष्टि बनाता है, जीवों के लिये शरीर का भी निर्माण करता है। किस आधार पर? जीवों के कर्म के आधार पर अर्थात् कर्मफल को प्रदान करने हेतु। सृष्टि हुई है तो प्रलय भी होगा, अतः जीवों के कर्म के लिये प्रकृति के मूल तत्त्वों का संयोग हुआ है तो वियोग भी होगा, इसी तरह जीव का भी प्रकृति से (शरीररूप में) संयोग हुआ है तो वियोग भी होगा।

अतः प्रकृति और जीव में संयोग का सामर्थ्य अनादि से है इसलिये संयोग होता रहेगा और वियोग भी होता रहेगा, सृष्टि फिर प्रलय पुनः सृष्टि -------; यह प्रवाह से अनादि है। जीव के कर्म भी प्रवाह से अनादि हैं; क्योंकि संयोग का सामर्थ्य जीव में अनादि है, जीव का प्रकृति से संयोग हुआ, शरीर की उत्पत्ति हुई और फिर कर्म की निरन्तरता, अतः यह भी प्रवाह से अनादि है। यह संयोग-वियोग भी निरन्तर होता रहेगा, सृष्टि-प्रलय, जन्म-मरण, शरीर ग्रहण से कर्म की निरन्तरता, यह लगातार-अनवरत चलता रहेगा, कब इसका प्रारम्भ हुआ, कब अन्त होगा, यह नहीं कहा जा सकता है। इसलिये ईश्वर, जीव, प्रकृति स्वरूप से अनादि; सृष्टि, जीव के कर्म और इनका संयोग-वियोग (संयोग-वियोग रूपी सामर्थ्य की विद्यमानता) **प्रवाह से अनादि** हैं।

५४. अनादि का स्वरूप-जो न कभी उत्पन्न हुआ हो, जिसका कारण कोई भी न हो, जो सदा से स्वयं सिद्ध होके सदा वर्तमान रहे, वह **'अनादि'** कहाता है।

व्याख्या-जिस का आदि कभी न हो अर्थात् जिसकी उत्पत्ति कभी भी न हुई हो, जो सदा से स्वयं सिद्ध रहते हुए हमेशा वर्तमान रहता है अनादि कहाता है। जैसे-घड़े की उत्पत्ति का कारण मिट्टी, कुम्हार, चाक आदि हैं, इस प्रकार से अनादि पदार्थ की उत्पत्ति का कारण कभी नहीं होता है, ये सदा से स्वयं सिद्ध रहते हैं।

५५. पुरुषार्थ-अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसको **'पुरुषार्थ'** कहते हैं।

५६. पुरुषार्थ के भेद-जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करनी, प्राप्त का अच्छी प्रकार रक्षण करना, रक्षित को बढ़ाना, और बढ़े हुए पदार्थों का सत्यविद्या की उन्नति में तथा सब के हित करने में खर्च करना है, इन चार प्रकार के कर्मों को **'पुरुषार्थ'** कहते हैं।

संयुक्त व्याख्या–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुष का अभीष्ट है, उद्देश्य है, प्रयोजन है। इनकी प्राप्ति हेतु उत्तम व्यवहार (स्वभाव, कर्म, स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि) की प्राप्ति के लिए मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त प्रयत्न करना है, पुरुषार्थ कहलाता है। मन से विचार–संकल्प, शरीर से अथक प्रयत्न, वाणी से दूसरों से सहाय्य लेने–प्रेरित का उद्योग और धन से संसाधन एकत्रित कर अभीष्ट को सर्वथा, सर्वदा आलस्य रहित होकर प्राप्त करना होता है। जो अप्राप्त है, उसकी इच्छा; जितना प्राप्त है, उस की रक्षा करना और बढ़ाना; बढ़े हुए पदार्थों का सत्यविद्या–वेदविद्या की उन्नति में तथा सब के हित में लगाना होता है। जैसे–जो विद्या नहीं आती है, उसको विद्वानों के चरणों में बैठकर प्राप्त करने की इच्छा करना, प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना, जितना मिलता जाय और जो पूर्व से विद्या पास में हो उसकी रक्षा करते जाना अन्यथा पूर्व–पूर्व प्राप्त विद्या लुप्त हो जायेगी। अतः नवीन विद्या का ग्रहण, मनन और चिन्तन करना, विद्या की वृद्धि तथा प्रभूत विद्या से पारोवर्य्यवित् हो वेदविद्या का अर्थप्रकाश, उस से आविष्कार, उसका प्रचार–प्रसार करना होता है। प्रभूत विद्या से प्राणिमात्र का हित करना होता है अहित कदापि नहीं, यही **पुरुषार्थ** है।

५७. परोपकार–अर्थात् अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियों के सुख होने के लिए जो तन, मन, धन से प्रयत्न करना है; वह **परोपकार** कहाता है।

***व्याख्या*–जिस से सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़े, उसके करने को परोपकार कहता हूँ।**

(सत्यार्थप्रकाश–स्वम० प्रकाश)

सब मनुष्यों के दुराचार को छुड़ाने और श्रेष्ठाचार को बढ़ाने के निमित्त मन, वाणी, शरीर तथा धन से प्रयत्न करने को परोपकार कहते हैं, क्योंकि दुराचार दुःख का और श्रेष्ठाचार सुख का कारण है।

५८. **शिष्टाचार**-जिसमें शुभगुणों का ग्रहण और अशुभ गुणों का त्याग किया जाता है, वह शिष्टाचार कहाता है।

***व्याख्या*-जो धर्माचरण पूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या ग्रहण कर, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है; यही शिष्टाचार और जो इस को करता है वह शिष्ट कहाता है।**

(सत्यार्थप्रकाश-स्वम० प्रकाश)

शुभगुण-सत्य आदि के ग्रहण और अवगुण-असत्य आदि के परित्याग के लिए सत्य एवम् असत्य का परिज्ञान आवश्यक है, इसके निर्णय के लिये ब्रह्मचर्य पूर्वक धर्म का आचरण अर्थात् छल, कपट, मद, मत्सर आदि से रहित होकर वेदविद्या का ग्रहण करके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द आदि प्रमाणों से विचार करना चाहिये, विचार करके सत्य का ग्रहण और असत्य को छोड़ देना चाहिये, यही **शिष्टाचार** अर्थात् शिष्ट लोगों का आचार है, जो ऐसा करते हैं, वे **शिष्ट** कहलाते हैं।

५९. **सदाचार**-जो सृष्टि से लेके आज पर्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है कि जिसमें सत्य का ही आचरण और असत्य का परित्याग किया है, उस को **'सदाचार'** कहते हैं।।

व्याख्या-सत्पुरुषों का आचार-व्यवहार ही सदाचार कहलाता है परन्तु वह सत्पुरुषों का आचार वेदप्रतिपादित आचार ही होता है, जिसमें सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग है। शिष्टाचार में हम अपनी विद्या से सत्य-असत्य का निर्णय कर ग्रहण वा परित्याग करते हैं, सदाचार में जो सत्पुरुष हैं उनके आचरण का अनुकरण करते हैं।।

६०. **विद्यापुस्तक**-जो ईश्वरोक्त, सनातन, सत्य-विद्यामय चार वेद हैं, उन को **'विद्यापुस्तक'** कहते हैं।

व्याख्या–ईश्वर के द्वारा प्रदत्त, हमेशा रहने वाले, सत्यविद्या के स्वरूप युक्त चार वेद हैं उनको विद्यापुस्तक (विद्या का ग्रन्थ) कहते हैं। वेद ही मुख्य रूप से विद्या है, इसकी सदृशता (वेदज्ञान के समाहितत्व से ही) के कारण अन्य (ज्ञान वा ग्रन्थ) को भी विद्या कहा जाता है।

६१. आचार्य–जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको **'आचार्य'** कहते हैं।

***व्याख्या*–जो सांगोपांग वेद विद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे, वह आचार्य कहाता है।** (सत्यार्थप्रकाश स्वम० प्रकाश)

जो अंग, उपांग सहित वेद विद्याओं को पढ़ा हो, स्वयं श्रेष्ठ आचार युक्त हो अर्थात् धार्मिक तथा शिष्ट हो, और इन सब वेद विद्याओं को पढ़ावे; सत्याचार को ग्रहण करावे, मिथ्याचार को छुड़वावे; उसे **आचार्य** कहते हैं।

६२. गुरु–जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इस से पिता को 'गुरु' कहते हैं और जो अपने सत्योपदेश से हृदय के अज्ञान रूपी अन्धकार मिटा देवे, उसको भी **'गुरु'** अर्थात् आचार्य कहते हैं।।

***व्याख्या*–माता-पिता और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे, वह भी गुरु कहाता है।**

(सत्यार्थप्रकाश–स्वम० प्रकाश)

माता-पिता को गुरु कहते हैं क्योंकि सन्तान की उत्पत्ति (गर्भाधान, जातकर्म, निष्क्रमण आदि संस्कारों से) से लेकर भोजन, रक्षा, शिक्षा और व्यवहार आदि सिखलाते हैं। जो सत्योपदेश–वेद के उपदेश से अज्ञानता को दूर कर देता है, उसे भी **गुरु** कहते हैं।

६३. अतिथि–जिसकी आने जाने में कोई भी निश्चित

तिथि न हो तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तरों के उपदेश से सब जीवों का उपकार करता है, उसको **'अतिथि'** कहते हैं।।

व्याख्या–जो विद्वान् हो, सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तरों के माध्यम से उपदेश करके अविद्या, अज्ञान, पाखण्डादि को दूर कर ज्ञान देकर बड़ा भारी उपकार करे और जिसका आना पूर्व से निश्चित न हो, जाना भी कार्य वा उद्देश्य की पूर्णता आदि पर निर्भर हो, सामान्यतः निश्चित न हो, **'अतिथि'** कहलाता है।।

६४. पञ्चायतन पूजा–जीते माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमेश्वर को जो यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करना है, उसको **'पञ्चायतन पूजा'** कहते हैं।।

व्याख्या–जीवित माता-पिता, आचार्य, अतिथि का यथायोग्य सत्कार-आज्ञापालन-सेवा-शुश्रूषा करनी उनकी पूजा है। परमेश्वर की आज्ञाओं का पालन करना अर्थात् वेदानुकूल चलना ही परमेश्वर की पूजा है।।

६५. पूजा–जो ज्ञानादि गुण वाले का यथायोग्य सत्कार करना है, उसको **'पूजा'** कहते हैं।।

व्याख्या–जो ज्ञान, प्रयत्न आदि गुण से युक्त है जैसे जीव और ईश्वर; पुनः जीव शरीर धारण करता है मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि के रूप में, इसमें मनुष्य (पश्वादि में) ही ज्ञान की अभिव्यक्ति, धारण और विचार करने में समर्थ है; अतः मनुष्य का सत्कार, सेवा, सम्मान और उचित उपयोग लेना पूजा है। परमेश्वर के प्रति कृतज्ञता श्रद्धा, आज्ञापालन और उपासना करनी पूजा है।

६६. अपूजा–जो ज्ञानादि रहित जड़ पदार्थ और जो सत्कार के योग्य नहीं है, उसका जो सत्कार करना है, वह **'अपूजा'** कहाती है।

व्याख्या–जड़ पदार्थ का सत्कार करना और जो सत्कार करने के योग्य नहीं उसका सत्कार करना अपूजा कहलाती है। जैसे–जड़ मूर्ति को भगवान् मानकर धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ाकर सत्कार करना, दुष्टों की सेवा करना **अपूजा** है।

६७. **जड़**–जो वस्तु ज्ञानादि गुणों से रहित है, उसको **जड़** कहते हैं।

व्याख्या–जिस वस्तु में ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि गुण न हो, वह **जड़** है जैसे–पर्वत, मिट्टी, जल आदि।

६८. **चेतन**–जो पदार्थ ज्ञानादि गुणों से युक्त है, उसको **'चेतन'** कहते हैं।

व्याख्या–जो पदार्थ ज्ञान, प्रयत्न आदि गुण वाला हो उसे चेतन कहते हैं। चेतन दो पदार्थ हैं–एक ईश्वर, दूसरे असंख्य जीव; ईश्वर में ज्ञान, प्रयत्न, ईक्षण, आनन्द आदि गुण हैं, जीवों में ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष आदि गुण हैं।

६९. **भावना**–जो जैसी चीज हो उसमें विचार से वैसा ही निश्चय करना कि जिसका विषय भ्रमरहित हो अर्थात् जैसे को तैसा ही समझ लेना, उसको **'भावना'** कहते हैं।

व्याख्या–जो वस्तु जैसी हो विचार कर उस को वैसा ही मानना भावना है, यदि विचार नहीं करते हैं तो भ्रम से वस्तु है कुछ अन्य और हम समझ लेंगे कुछ अन्य जैसे–पत्थर की मूर्ति को ईश्वर मान लेना, पत्थर तो पत्थर है जड़ वस्तु; ईश्वर तो चेतन है और वह भी अनादि, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ; यह पत्थर ईश्वर कैसे सम्भव है? यदि विचार करेंगे तो पत्थर जड़ और ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, चेतन सत्तावाला पायेंगे एवं मानेंगे। तब पत्थर को जड़ मानना (चाहे हम ने उसके हाथ, पैर मुख आदि बना दिये हों, प्राण प्रतिष्ठा कर दी हो, जड़ तो जड़ ही है, चेतन के ज्ञान, प्रयत्न आदि लक्षण कदापि उसमें नहीं घटे हैं, न घटते हैं और न ही घट

सकेंगे), चेतन तथा निराकार ईश्वर को ईश्वर मानना ही **भावना** है।

७०. **अभावना**–जो भावना से उल्टी हो अर्थात् जो मिथ्या ज्ञान से अन्य में अन्य निश्चय मान लेना है जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय कर लेते हैं, उसको **'अभावना'** कहते हैं।

व्याख्या–मिथ्या ज्ञान से अथवा बिना चिन्तन किये ही अन्य वस्तु मान लेना अभावना है। जैसे–जड़ को जड़ मानना चाहिये परन्तु इसको चेतन ईश्वर मान लेना अभावना है। उसी तरह सर्वव्यापक ईश्वर को एकदेशी (एक जगह रहने वाला) आदि मानना भी **अभावना** है।

७१. **पण्डित**–जो सत् असत् को विवेक से जानने वाला, धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यप्रिय, विद्वान् और सब का हितकारी है; उस को **'पण्डित'** कहते हैं।

व्याख्या–जो विद्वान् होकर विवेक बुद्धि से सत्य और असत्य को जानने वाला हो, धार्मिक हो, सत्य बोलने वाला हो, सत्य जिस को प्रिय हो और प्राणिमात्र का हित करने वाला हो; वह **पण्डित** कहलाता है।

७२. **मूर्ख**–जो अज्ञान, हठ, दुराग्रहादि दोष सहित है, उसको **मूर्ख** कहते हैं।

व्याख्या–जो पढ़ा-लिखा-सुना नहीं वा पढ़-लिखकर भी बिना उचित विचार किये मानने, कहने, करने वाला हो; अपनी गलत बात को भी न छोड़े उसी पर डटा रहे; पहले से कोई मान्यता बना ली हो तो उसके असत्य सिद्ध हो जाने पर भी उसे छोड़े नहीं अपितु उसी का अनुमोदन करता रहे इत्यादि दोषों से युक्त हो तो वह **मूर्ख** है।

७३. **ज्येष्ठ कनिष्ठ व्यवहार**–जो बड़े और छोटों से यथायोग्य परस्पर मान्य करना है उसको **'ज्येष्ठ कनिष्ठ व्यवहार'** कहते हैं।

व्याख्या-बड़ों का छोटे से, छोटों का बड़े से और अपने से बड़े तथा छोटे के साथ जो योग्यतानुसार आदर आदि करना है; ज्येष्ठ कनिष्ठ व्यवहार कहलाता है। जैसे-बड़े जब आवें तो छोटे उठकर उन से नमस्ते करें, उनको मान्य दें, उनको ऊंचे आसन आदि पर बैठावें, अल्पाहार-भोजन आदि से सत्कार करें, जब वे पूछें तो नम्रतापूर्वक उत्तर देवें, जो कुछ प्रतिज्ञा करें उसे पूरी करें आदि । इसी प्रकार बड़े भी छोटों का मान करें, उपेक्षा न वर्त्तें, नमस्ते करने पर आशीर्वचन अवश्य देवें, उन की बात ध्यान से सुनकर उचित प्रत्युत्तर देवें, जिस से उनका हित हो बिना पूछे ही बतलावें, उन की सहायता एवं रक्षा आदि करें, उन से कभी द्रोह न करें इत्यादि व्यवहार बड़ों एवं छोटों के हैं।।

७४. सर्वहित-जो तन, मन और धन से सब के सुख बढ़ाने में उद्योग करना है, उस को सर्वहित कहते हैं।

व्याख्या-प्राणिमात्र अर्थात् पशु, पक्षी, मनुष्य आदि के सुख के लिये जो ज्ञान से, शरीर से और धन से पुरुषार्थ करना है वह सर्वहित (अर्थात् प्राणिमात्र का जिससे हित सधे) कहलाता है। जैसे-मांसाहार को रोकने के लिये व्याख्यान देना, मांसाहार की प्रवृत्ति को बदलवाना, विधान बनवाना, शरीर से अर्थात् बलपूर्वक भी बूचड़खाना आदि न खुलने देना, जो खुले हैं उन्हें बन्द करवाना, इस निमित्त धन से भी ग्रन्थ आदि का छपवाना, जन संग्रह, जनान्दोलन और गाय आदि पशु, मोर आदि पक्षी एवम् अन्य जन्तुओं की उपयोगिता को बतलाना तथा इन को निमित्त (अहिंसित रूप में) बनाकर उद्योग आदि का प्रणयन जिससे उचित अर्थार्जन हो इनकी रक्षा हो सके, सर्वहित कार्य है। मांसाहार के रुकने से निरीह पशु उनमें परम उपयोगी गाय आदि एवम् अन्य पशु-पक्षियों की रक्षा होकर प्राकृतिक सन्तुलन, समृद्धि, मनुष्य की रक्षा-स्वस्थता एवं मुख्यकर ईश्वर की आज्ञा का पालन और ईश्वर के गुणों का विस्तार होता है। इसी प्रकार से अन्य एकभाषा आदि का प्रसार भी **सर्वहित**

कार्य है।।

७५. **चोरीत्याग**–जो स्वामी की आज्ञा के बिना किसी के पदार्थ का ग्रहण करना है, वह 'चोरी' और उस का छोड़ना **'चोरी त्याग'** कहाता है।

व्याख्या–स्वामी की आज्ञा के बिना स्वामी के पदार्थों को ले लेना चोरी कहलाती है और ग्रहण न करना **'चोरी त्याग'** कहलाता है।

७६. **व्यभिचारत्याग**–जो अपनी स्त्री के बिना दूसरी स्त्री के साथ गमन करना और अपनी स्त्री को भी ऋतुकाल के बिना वीर्यदान देना तथा अपनी स्त्री के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश करना और युवावस्था के बिना विवाह करना है, वह सब व्यभिचार कहाता है। उस को छोड़ देने का नाम **'व्यभिचारत्याग'** है।

व्याख्या–शास्त्रविरुद्ध गमन एवं वीर्य की व्यर्थता **व्यभिचार** तथा इसको छोड़ देना **'व्यभिचारत्याग'** है।

७७. **जीव का स्वरूप**– जो चेतन, अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान गुण वाला तथा नित्य है, वह **'जीव'** कहाता है।

व्याख्या–चेतन, अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान गुणधर्म वाले को जीव कहते हैं। ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं। इस में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान नैमित्तिक रूप से भी बढ़ते हैं; पाप तथा पुण्यों के फल रूप में प्राप्त सुख एवं दुः ख तो नैमित्तिक ही हैं; ईश्वर के निमित्त से मोक्ष में आनन्द की उपलब्धि भी होती है। (जिज्ञासु इस विषय में अधिक ज्ञान हेतु सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में प्रश्न–उस की शक्ति कै प्रकार की और कितनी है ? का उत्तर–कई बार पढ़ें, मनन और निदिध्यासन करें ।)

७८. **स्वभाव**–जिस वस्तु का जो स्वाभाविक गुण है जैसे

कि अग्नि में रूप, दाह अर्थात् जब तक वह वस्तु रहे तब तक उसका वह गुण भी नहीं छूटता, इसलिये इसको **'स्वभाव'** कहते हैं।

व्याख्या- वस्तु का जो गुण उसके अस्तित्व रहने तक न छूटे वह उस का स्वाभाविक गुण कहलाता है और यही गुण उस वस्तु का **स्वभाव** कहाता है। जैसे अग्नि का गुण रूप और दाह है, जब तक अग्नि के परमाणु पृथक-पृथक होकर अपने कारण में नहीं लीन हो जाते तब तक अग्नि में रूप और दाह रहेगा; यही रूप और दाह अग्नि का **स्वभाव** है।

७९. **प्रलय**-जो कार्य -जगत् का कारण रूप होना अर्थात् जगत् का करने वाला ईश्वर जिन-जिन कारणों से सृष्टि बनाता है कि अनेक कार्यों को रचके यथावत् पालन करके पुनः कारणरूप करके रखना है, उसका नाम **'प्रलय'** है।

व्याख्या-जिस कारण द्रव्य से ईश्वर ने यह कार्यरूप सृष्टि बनायी थी उस का यथावत् पालन करके पुनः कारण रूप में करने को **प्रलय** कहते हैं।

८०. **मायावी**-जो छल, कपट, और स्वार्थ में ही प्रसन्नता, दम्भ, अहंकार, शठतादि दोष हैं, इसको **'माया'** कहते हैं और जो मनुष्य इससे युक्त हो, वह **'मायावी'** कहाता है।

व्याख्या-छल, कपट और स्वार्थ में ही प्रसन्नता का होना, दम्भ अर्थात् जिस बात को जाने नहीं परन्तु जानने का ढकोसला करना; घमण्ड; शठता अर्थात् धूर्तता अर्थात् सम्मुख ही कहना कुछ और करना कुछ रूपी मक्कारपना आदि जो दोष हैं, **'माया'** कहते हैं और जिस मनुष्य के भीतर ये दोष हों उसे **'मायावी'** कहते हैं।

८१. **आप्त**-जो छलादि दोष रहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सब पर कृपादृष्टि से वर्त्तमान होकर अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश

सदा करे, उसको **'आप्त'** कहते हैं।

***व्याख्या*-जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सब के सुख के लिये प्रयत्न करता है, उसी को आप्त कहता हूँ।**

(सत्यार्थप्रकाश-स्वम० प्रकाश)

छल, कपट और स्वार्थ आदि दोषों से रहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्य का उपदेश करने वाला, यथार्थ को कहने वाला, सब पर कृपादृष्टि रखते हुए सब के सुख के लिये अविद्या-अज्ञान को दूर करके वेदानुकूल विद्या को जो सदा देने वाला हो उसे **'आप्त'** कहते हैं।

८२. परीक्षा-जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, वेदविद्या, आत्मा की शुद्धि और सृष्टिक्रम से अनुकूल विचार के सत्यासत्य को ठीक-ठीक निश्चय करना है, उसको **'परीक्षा'** कहते हैं।

***व्याख्या*-'परीक्षा' पांच प्रकार की है। इसमें से प्रथम जो ईश्वर उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवीं अपने आत्मा की पवित्रता विद्या, इन पांच परीक्षाओं से सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना चाहिये।**

(सत्यार्थप्रकाश-स्वम० प्रकाश)

क्या सत्य है? क्या असत्य है? क्या उचित है? क्या अनुचित है? क्या ग्रहण करने योग्य है? क्या छोड़ने योग्य है? क्या पढ़ना है? क्या पढ़ाना है? क्या हितकर है? और क्या हानिकर है? इत्यादि हजारों शंकाएँ होती हैं। इनके समाधान (निर्णय) के लिये विचार करना आवश्यक है, इस विचार वा चिन्तन की विधि यह है जिन से हम सत्य-असत्य का निर्णय (विवेक) कर सकते हैं-

१. प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान,

शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव से सत्याऽसत्य का निर्णय होता है।

२. ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदविद्या-जीव को वैसे ही पवित्रता आदि गुणों को धारण करना चाहिये जैसे ईश्वर के हैं, ईश्वर जैसे ही उपकार के कर्म करने चाहिये, स्वभाव भी ईश्वर की तरह न्यायकारी रखना चाहिये; जब संशय हो तो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव को अपना लेना चाहिये और उस से विपरीत छोड़ देना चाहिये। ईश्वर के गुण, कर्म, और स्वभाव का वर्णन वेद में है अतः यह सर्वमान्य सिद्धान्त हुआ कि कर्तव्य और अकर्तव्य के निर्णय में सब से बड़ा निर्णायक वेद है, इसलिये बिना किसी संशय के वेद की आज्ञा ग्राह्य एवं मान्य होनी चाहिये और इस से विपरीत सर्वथा त्याज्य।।

३. सृष्टिक्रम-जो सृष्टि के गुण, कर्म और स्वभाव के विरुद्ध हो वह मिथ्या और जो अनुकूल हो वह सत्य कहाता है। जैसे-कोई कहे कि श्रापमात्र से वह व्यक्ति भस्म हो गया तो यह सृष्टि के गुण के विरुद्ध होगा क्योंकि श्राप तो वाणी है, वाणी का गुण जलाना नहीं है अपितु बोध कराना है, जलाना गुण तो अग्नि का है; अतः श्राप से भस्म का होना सृष्टिनियम के विरुद्ध होने से असत्य और मानने के योग्य नहीं है।

४. आप्तों का व्यवहार-आप्त अर्थात् धार्मिक, विद्वान् आदि गुणों से सुशोभित व्यक्ति का जैसा आचरण हो वैसा ही स्वयम् आचरण करना चाहिये, उनका कार्य श्रेष्ठ होता है उसका अनुकरण करना चाहिये, उन का उपदेश, उनके द्वारा लिखे ग्रन्थ और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त मानने के योग्य होते हैं, जो-जो वे करें और मानें वह सत्य और इससे विपरीत अनाप्तों का व्यवहार असत्य होता है।

५. आत्मा की शुद्धि-जो-जो अपना आत्मा अपने लिये

चाहे, वह सब के लिये चाहना और जो न चाहे वह-वह किसी के लिये न चाहना। इन भावनाओं से क्या दूसरों के लिये ग्राह्य वा त्याज्य है निर्णय करना चाहिये; अपनी अनुकूलता वा प्रतिकूलता का ज्ञान ठीक-ठीक बिना विद्या के नहीं हो सकता है, इसलिये विद्या के नेत्र से अनुकूल वा प्रतिकूल समझ कर दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार होना चाहिये। मन, वाणी और कर्म में एकरूपता रखते हुए स्वात्मवत् भावना के साथ शुद्ध-पवित्र होकर विद्या के नेत्र से अनुकूल वा प्रतिकूल का विचार करके सत्य और असत्य का निर्णय करना और कराना चाहिये ।।

८३. आठ प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये **'आठ प्रमाण'** हैं। इन्हीं से सब सत्याऽसत्य का यथावत् निश्चय मनुष्य कर सकता है।

८४. लक्षण-जिससे लक्ष्य जाना जाय जो कि उसका स्वाभाविक गुण है। जैसे कि रूप से अग्नि जाना जाता है, इसलिये उसको **'लक्षण'** कहते हैं।

व्याख्या-जिस से लक्ष्य जाना जाय, वह लक्षण कहलाता है। जैसे रूप से अग्नि जाना जाता है, रूप अग्नि का स्वाभाविक गुण है, यदि कहीं पर आँखों से रूप जाना जाता है तो वहाँ अग्नितत्त्व है यही निश्चय होता है। स्वाभाविक और कृत्रिम गुण दोनों से लक्ष्य जाना जाता है; परन्तु कृत्रिम गुण तो निमित्त के हटने से हट जाता है; अतः स्वाभाविक गुण से ही ठीक-ठीक लक्ष्य जाना जा सकता है। इसलिये इस को **लक्षण** कहते हैं।।

८५. प्रमेय-जो प्रमाणों से जाना जाता है जैसा कि आँख का प्रमेय रूप अर्थ है। जो कि इन्द्रियों से प्रतीत होता है, उसको **'प्रमेय'** कहते हैं।

व्याख्या-प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो जाना जाता है अर्थात् ज्ञेय है, वही **'प्रमेय'** होता है। जैसे आँख का प्रमेय रूप, नासिका का

प्रमेय गन्ध इत्यादि है।

८६. **प्रत्यक्ष**–जो प्रत्यक्ष शब्दादि पदार्थों के साथ श्रोत्रादि इन्द्रिय और मन के निकट सम्बन्ध से ज्ञान होता है, उसको **'प्रत्यक्ष'** कहते हैं।

व्याख्या–शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणों का श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है, तब इन इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको **'प्रत्यक्ष'** कहते हैं।

८७. **अनुमान**–किसी पूर्व दृष्ट पदार्थ के एक अंग को प्रत्यक्ष देख के पश्चात् उसके अदृष्ट अंगी का जिससे यथावत् ज्ञान होता है, उसको **'अनुमान'** कहते हैं।

व्याख्या–किसी वस्तु का प्रथम प्रत्यक्ष किया हो, उसके गुणों को जाना हो; अब सम्पूर्ण वस्तु तो दिखाई नहीं पड़ती है। उसका एक अंग, कोई गुण, किसी नित्य सहचारी वस्तु के दिखाई पड़ने मात्र से उस वस्तु का ज्ञान होना अनुमान कहाता है। जैसे–रसोईघर में अग्नि और धूएँ को साथ-साथ देखा था, अब दूर स्थान में केवल धूआं दिखाई पड़ रहा है, तो बोध होता है कि वहाँ अग्नि भी होगी, प्रत्यक्ष सहचारी धूम के देखने से अदृष्ट सहचारी अग्नि का ज्ञान होना ही **अनुमान** है।

८८. **उपमान**–जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के समतुल्य नील गाय होती है, जो कि सादृश्य उपमा से ज्ञान होता है, उस को **'उपमान'** कहते हैं।

व्याख्या–पूर्व प्रत्यक्ष की हुई वस्तु से, जो वस्तु अभी नहीं देखी है, पूर्व प्रत्यक्ष वस्तु से सादृश्यता (उपमा) को दिखलाकर अप्रत्यक्ष वस्तु का बोध कराना उपमान कहाता है। जैसे–किसी ने गाय देखी है, नील गाय नहीं देखी है तो गाय के सदृश ही नील गाय होती

है ऐसा बतला देने पर वह गाय के जैसे ही (कुछ भिन्नता रहने पर भी) पशु को देखकर नील गाय का ज्ञान कर लेगा, यही उपमान है।

८९. **शब्द**–जो पूर्ण आप्त परमेश्वर और पूर्वोक्त आप्त मनुष्य का उपदेश है, उसी को **'शब्द-प्रमाण'** कहते हैं।

व्याख्या–मनुष्य अल्पज्ञ है, परमात्मा सर्वज्ञ है अतः परमेश्वर पूर्ण आप्त है, पूर्ण आप्त परमेश्वर का उपदेश जो वेद है वह स्वतः प्रमाण है; जो आप्त मनुष्यों का वेद अविरुद्ध उपदेश और ग्रन्थादि हैं, उसको भी **शब्द-प्रमाण** कहते हैं।

९०. **ऐतिह्य**–जो शब्द प्रमाण के अनुकूल हो, जो कि असम्भव और झूठा लेख न हो, उसी को इतिहास कहते हैं।

व्याख्या–भूतकालस्थ पुरुषों का जीवनचरित्र, सृष्टि पदार्थों के निर्माण आदि की कथा ऐतिह्य कहलाती है परन्तु वह किसी आप्त के द्वारा कहा गया हो, असम्भव, सृष्टिक्रम के विरुद्ध और असत्य न हो।

९१. **अर्थापत्ति**–जो एक बात के कहने से दूसरी बात बिना कहे समझी जाय, उस को **'अर्थापत्ति'** कहते हैं।

व्याख्या–कारण एवं कार्य भाव को परस्पर विचार करते हुए एक के होने पर दूसरे को जान लेना अर्थापत्ति होती है। जैसे–देवदत्त मोटा और स्वस्थ है परन्तु दिन में भोजन नहीं करता है, इससे क्या जाना गया कि अवश्य रात्रि में करता होगा क्योंकि बिना भोजन किये स्थूलता नहीं होती है, कारण तो भोजन है कार्य है स्थूलता, यदि कार्य है तो कारण अवश्य होगा, अतः देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है अर्थात् रात्रि में करता है, यही परिज्ञान अर्थापत्ति है।

९२. **सम्भव**–जो बात प्रमाण, युक्ति और सृष्टिक्रम से युक्त हो, वह **'सम्भव'** कहाता है।

व्याख्या–जो बात प्रत्यक्षादि प्रमाण से युक्त हो, तर्क से युक्त हो और सृष्टि के स्वाभाविक नियमों से युक्त हो; वह **'सम्भव'** कहलाता है। जैसे–अगस्त्य ने समुद्र पी लिया, पार्थिव गणेश ने दूध पिया इत्यादि बातें प्रत्यक्षादि प्रमाण, तर्क, सृष्टिक्रम (दूध की आकांक्षा का जड़ में अभावरूप आदि विरुद्धता) से विरुद्ध होने से **'सम्भव'** नहीं है।

९३. अभाव–जैसे किसी ने किसी से कहा कि तू जल ले आ, उसने वहाँ देखा कि यहाँ जल नहीं है परन्तु जहाँ जल है वहाँ से ले आना चाहिये। इस अभाव निमित्त से जो ज्ञान होता है; उस को **'अभाव प्रमाण'** कहते हैं।

व्याख्या–किसी क्रिया, गुण और द्रव्य का जो विशेष निमित्त के पूर्व, वर्तमान और पर में न होना है, अभाव कहलाता है। जैसे–कपास से आच्छादन की क्रिया तब तक नहीं हो सकती है, जब तक उसमें संघनन गुण विशेष निमित्त खड्डी, करघा आदि से नहीं आ जाता है। इस गुण के आने पर ही वह वस्त्र बनता है, इस से पूर्व इस कपास को वस्त्र नहीं कह सकते हैं अर्थात् वस्त्र का अभाव है (यह प्राक्–अभाव है)। वस्त्र पुराना होकर चीथड़ों में बदल गया, अब इससे वस्त्र का कार्य नहीं हो सकता है; वस्त्र का अभाव हो गया (यह प्रध्वंस–अभाव है)। प्रकोष्ठ में वस्त्र नहीं है, अर्थात् अन्यत्र है क्योंकि प्रकोष्ठ में वस्त्र का निषेध सत्ता को द्योतित तो कर ही रहा है। अतः प्रकोष्ठ में वस्त्र का अभाव है (यह संसर्ग अभाव है)। वस्त्र घट नहीं है तात्पर्य वस्त्र में घट का अभाव है; इसी तरह घट वस्त्र नहीं है अर्थात् घट में वस्त्र का अभाव है (यह अन्य में अन्य का अभाव है)। जिस की सत्ता ही न हो केवल कथन मात्र हो जैसे–आकाश का फूल, यहाँ सभी कालों में वस्तु का ही अभाव है (यही अत्यन्त अभाव है)। अभाव से भी कारण, कार्य, सत्ता एवं संसर्ग का बोध होकर वस्तु तत्त्व का निश्चय होता है।

९४. शास्त्र-जो सत्यविद्याओं के प्रतिपादन से युक्त हो और जिस करके मनुष्यों को सत्य-सत्य शिक्षा हो, उसको **'शास्त्र'** कहते हैं।

व्याख्या-जिन में सत्यविद्याएँ बतलायी गयी हों और जिस में सत्य-सत्य शिक्षा (सिद्धान्त-नियम) वर्णित हो, **शास्त्र** कहलाता है। प्रथम तो 'वेद' शास्त्र है। वेद के अर्थों को प्रकाशित करने वाले, वैदिक सिद्धान्तों एवं उनके प्रयोगगत प्रारूप को बतलाने वाले ग्रन्थ भी 'शास्त्र' हैं। प्राकृतिक रहस्यों को उद्‌घाटित करने वाले और उनका अनुकरण कर यन्त्रादि का निर्माण करने वाले, मिश्रित पदार्थों का निर्माण करने वाले, सूक्ष्म और विस्तृत गणना करने वाले आदि वैज्ञानिकों, तत्त्ववेत्ताओं और वैदिक विद्वानों के ग्रन्थ भी शास्त्र होते हैं, क्योंकि इनसे भी सत्य का बोध होता है परन्तु ये वैज्ञानिक आदि आप्त होने चाहिये अन्यथा इसमें व्यर्थ, आडम्बरयुक्त, अपूर्ण और परिवर्तनशील परिकल्पनाएं तथा सिद्धान्त ही ज्यादा होंगे और तत्त्व न्यून होंगे ।।

९५. वेद-जो ईश्वरोक्त, सत्यविद्याओं से युक्त ऋक् संहितादि चार पुस्तक हैं कि जिन से मनुष्यों को सत्य-सत्य ज्ञान होता है, उस को **'वेद'** कहते हैं।

व्याख्या**-चारों 'वेदों' (विद्या धर्मयुक्त ईश्वर- प्रणीत संहिता मन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता हूँ। वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिन के प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे-सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं।** (सत्यार्थप्रकाश-स्वम० प्रकाश)

मनुष्य के लिये संविधान स्वरूप परमेश्वर द्वारा प्रदत्त ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद जो चार सत्य विद्याओं के आकर ग्रन्थ हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्य और असत्य, कर्तव्य और

अकर्तव्य तथा धर्म और अधर्म आदि का परिज्ञान होता है। ये ही वेद हैं। ईश्वर के सर्वज्ञ होने से ये चारों वेद भ्रान्ति रहित हैं और स्वतः प्रमाणभूत हैं अर्थात् ये बिना परीक्षा किये ही मानने और आचरण में लाये योग्य हैं।

९६. पुराण–जो प्राचीन ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ऋषि–मुनिकृत सत्यार्थ पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा, नाराशंसी कहते हैं।

***व्याख्या*–जो ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ, अन्य भागवतादि को नहीं।**

(सत्यार्थप्रकाश स्वम० प्रकाश)

ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, साम ब्राह्मण और गोपथ ब्राह्मण को ही पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी कहते हैं। वेद का सर्वप्रथम व्याख्यान आचार्य ब्रह्मा ने किया, तदनन्तर इन व्याख्यानों का संकलन और नवीन प्रवचन अन्य ऋषियों एवं मुनियों ने करके ब्राह्मणादि ग्रन्थ बनाये। ये ब्राह्मण ग्रन्थ परतः प्रमाण वाले हैं, इनका प्रमाण वेद के अधीन है, यदि सुदीर्घ काल में आलस्य और अविद्या आदि के कारण इसमें वेद विरुद्ध वचन हो तो वह–वह अंश अप्रामाणिक एवं त्याज्य होगा।

९७. उपवेद–जो आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र, जो धनुर्वेद शस्त्रास्त्र विद्या–राजधर्म, जो गान्धर्ववेद गानशास्त्र और अर्थवेद जो शिल्पशास्त्र है; इन चारों को **'उपवेद'** कहते हैं।

व्याख्या–चारों वेदों के एक–एक उपवेद हैं, ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है जिसमें चिकित्सा सम्बन्धी विवेचन है। इसमें वर्तमान में निघण्टु, चरक और सुश्रुत ग्रन्थ मुख्य हैं। यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद है, इसमें युद्ध के उपकरणों के निर्माण एवं प्रयोग आदि का विवेचन तथा राजधर्म है; इसमें युद्ध निर्माण सम्बन्धी

प्राचीन ग्रन्थ लुप्तप्राय हैं, संकीर्ण विवेचन ही यत्र तत्र रामायण, महाभारत, यन्त्रसर्वस्व, समरांगण सूत्रधार, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है। राजधर्म सम्बन्धी विस्तृत विवेचन मनुस्मृति, महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में है। सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद है, जिस में गान विद्या है। अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद है, इस को शिल्प शास्त्र भी कहते हैं। जिसमें विमान, तार एवम् अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों का वर्णन है; इसके ग्रन्थ भी अनुपलब्ध हैं, यत्र-तत्र पूर्वोक्त यन्त्रसर्वस्वादि ग्रन्थों में ही वर्णन मिलता है। इन्हीं उपवेदों में से विद्याएँ निकाल-निकाल कर प्रायोगिक रूप में वर्णित की गयी थीं, जिनसे भारत लक्षाब्दियों तक शिष्ट, समृद्ध और महान् पराक्रमशाली बना रहा।।

९८. **वेदांग**-जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आर्ष सनातन शास्त्र हैं, इनको **'वेदांग'** कहते हैं।

व्याख्या-वेदों के अर्थ को जानने एवं लौकिक व्यवहारों के निष्पादन हेतु इन ग्रन्थों में शिक्षा -पाणिनि मुनि कृत; कल्प-श्रौत, गृह्य, शुल्ब और धर्मसूत्र, इन में वेदों के अनुसार पृथक्-पृथक् श्रौतसूत्रादि भी हैं, जैसे-आश्वलायन श्रौतसूत्र (ऋग्वेद), कात्यायन श्रौतसूत्र (यजुर्वेद) आदि; व्याकरण-पाणिनिमुनि कृत अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन एवं पतञ्जलि मुनिकृत महाभाष्य; निरुक्त-यास्कमुनिकृत; छन्द-पिङ्गलाचार्यकृत; ज्योतिष-सूर्यसिद्धान्त आदि ग्रन्थ **वेदांग** कहलाते हैं।

९९. **उपांग**-जो ऋषि-मुनिकृत मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त छः शास्त्र हैं, इनको **'उपांग'** कहते हैं।

व्याख्या-ऋषियों-मुनियों ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों में आये हुए व्यवहारिक और आध्यात्मिक ग्रन्थियों (समझने में कठिन स्थलों, प्रसंगों, सिद्धान्तों, शब्दों आदि के रूप में) को सुलझाने हेतु, यथार्थ निर्णय के लिए, वैदिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा उनके प्रायोगिक

रूप जिस से वे प्रत्यक्ष हो सकें, इन मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ग्रन्थों की रचना की, इन्हें **उपांग** कहते हैं। सम्पूर्ण विश्व भर में यह अपार बहुमूल्य सम्पत्ति अन्यत्र कहीं नहीं है, इस ज्ञान का सहस्रांश भी अन्य मतावलम्बियों के पास नहीं है, यह महान् मानवीय मूल्यों, सत्य की अवधारणाओं, अतीन्द्रिय को भी प्रत्यक्ष कराने वाले सिद्धान्तों तथा उपायों से परिपूर्ण, अत्यन्त आश्चर्यजनक ग्रन्थ रत्न हैं। यह ऋषियों के द्वारा प्रदान की गयी हम मनुष्यों के लिये अत्यन्त बहुमूल्य परिसम्पत्ति है, हम आर्यजन एवं विद्वान् लोग इन ग्रन्थों का पठन-पाठन, सिद्धान्तों का जीवन में धारण, प्रचार-प्रसार, यथार्थ अर्थ एवं शब्दों की सुरक्षा करके ही सुख और आनन्द की प्राप्ति कर-करा ऋषि ऋण से मुक्त हो सकते हैं।

१००. नमस्ते-मैं तुम्हारा मान्य करता हूँ।।

व्याख्या-हम मुनष्यों के लिये परस्पर अभिवादन **'नमस्ते'** है, वेद में उपलब्ध 'नमस्ते' के अर्थ और प्रसंगों के अनुसार यह अनुकरण है। हमारे आर्ष ग्रन्थों एवम् आर्य परम्पराओं में अभिवादन की प्रणाली यही है।।

इति आर्योद्देश्यरत्नमाला समाप्ता।।